Bodhi-Path Year 2019 July Issue Volume 17 Page No 29-34

बौद्ध धर्म की तिब्बत में कार्ग्युद परम्परा और लो–जोङ् की साधना

विजय कुमार सिंह
तिब्बती भाषा एवं बौद्ध अध्ययन के प्रोफेसर
एवं अध्यक्ष,
चीनी व तिब्बती भाषा विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

तिब्बती बौद्ध परम्परा में देशज परम्पराएं अर्थात् तिब्बत में विकसित परम्पराओं का आरम्भ कार्ग्युद के विकास के साथ हुआ। तिब्बती भाषा में कार्ग्युद दो शब्दों से मिलकर बना है– 'का' བཀའ་तथा 'ग्र्युद' བརྒྱུད། अर्थ यूं समझें कि ''का'' मतलब बुद्धवचन तथा ''ग्र्युद'' का अर्थ परम्परा[1] है। इस प्रकार कार्ग्युद का अर्थ हुआ बौद्धवचनों की परम्परा अथवा सूत्र परम्परा। तिब्बत में इस परम्परा को करने का श्रेय मार–पा–लोत्सावा तथा उसके विद्वान शिष्य मीला–रीस्–पा को जाता है जिन्हें प्राथमिक तौर पर अनुवादक अर्थात् लोत्सावा माना गया था। तिब्बत से बाहर भारत में भी कार्ग्युद की विशाल परम्परा है। भूटान का राजकीय धर्म डुग–पा–कार्ग्युद है जो कार्ग्युद की ही एक शाखा है। पश्चिमी जगत् में भी इसके अनुयायियों की संख्या कम नहीं है।

कार्ग्युद परम्परा का मूल भारत में तिल्लीपाद (988–1069) तथा नड़पाद (1016–1100) से है जिसकी तिब्बत देश में उपस्थिति मार–पा, मीला–रेस्–पा और गाम्–पो–पा से हुई। इस सम्प्रदाय में अनेकानेक परम्पराएं प्रचलित हैं जो शिक्षाएं तथा साधनाओं के प्रकार से वर्गीकृत हैं। एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लो–जोङ्ग साधना कार्ग्यूद सम्प्रदाय में प्रचलित है जिसका सम्मान समान रूप से अन्य परम्परा अर्थात ञीङ्–मा, सा–क्या तथा गे–लुग् में भी है। इसका वर्णन किया जा रहा है।

བློ་སྒྱུད།

लो–जोङ् शिक्षाएँ मूलतः चित्तवृत्ति को सम्यक् निर्देशन देने की शिक्षाएँ हैं। ये धम्मपद में दिए गए उपदेश के अनुकूल ही है। जैसा कि यमकवग्ग में कहा गया है "मनोपुबगंमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया३." अर्थात् चित्तवृत्ति में जितने भी दोष अथवा गुण उत्पन्न होते हैं उनका निर्देशक मन ही है। मन ही कुशल–अकुशल कर्मों का आधार है। ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् का दूसरा मन्त्र तथा तेजोबिन्दु उपनिषद भी यही कहता है;

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्तयै निर्विषयं स्मृतम्।"[2]

इस प्रकार लो–जोङ् को हम मन को बोधिप्राप्ति के लिए अनुकूलित करने की शिक्षाओं व साधनाओं का ऐसा अनूठा संग्रह समझ सकते हैं जिसके द्वारा क्लेशों का प्रहाण व भविष्य में पुनः उत्पत्ति का निषेध होता हो। इसके साथ ही इसके द्वारा नवीन कुशल कर्मों का सृजन तथा उत्पन्न कुशल कर्मों की अभिवृद्धि भी होती है। लो–जोङ् शिक्षाओं को चित्त–प्रशिक्षण शिक्षाएँ भी कह सकते हैं। इसकी प्रतिपत्ति स्मृति है। लो–जोङ् शिक्षाओं से सम्यक् स्मृति स्थापित होती है। अतिश से स्थापित हुई लो–जोङ् शिक्षाओं की परम्परा को 12वीं शताब्दी के तिब्बती विद्वान् गेशे छे–खावा द्वारा सुसंगठित रूप दिया गया। सात प्रमुख बिन्दुओं में वर्गीकृत लो–जोङ् शिक्षाएं मूलतः सूत्रपिटक से लिए गए निर्देश ही हैं जिन्हें सार्वजनिक उपदेशों की शृंखला से लेकर गुरु–शिष्य की साक्षात् परम्परा द्वारा सुरक्षित रखते हुए इसके वर्तमान स्वरूप में संकलित किया गया है। विस्तार में जाने पर ये सात बिन्दु 59 निर्देशों में बदल जाते हैं जो विधायी और निषेधात्मक दोनों ही प्रकृति के हैं। अधोलिखित पंक्तियों में इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है–

4.1 प्राथमिक बिन्दु।

སྔོན་འགྲོ་རྣེན་གྱི་ཚོས་བསྡུན་པ།

लो–जोङ् शिक्षाएँ सात बिन्दुओ में बाँटी गईं है। प्रथम बिन्दु में प्राथमिक शिक्षाएं हैं जिसके अन्तर्गत चार निर्देश आते हैं–

---

[1] कार्ग्युद शब्द का एक और अन्वय प्राप्त होता है– དཀར་བརྒྱུད། इस अन्वय में कर का अर्थ श्वेत होगा। जिन–वज्रधर से निःसृत हो मार–पा–लोत्सावा तक की अविच्छिन्न निर्मल परम्परा में श्वेत रंग निर्मलता का प्रतीक है।

[2] ब्रह्मबिन्दु उपनिषद, दूसरा मन्त्र

(क) दुर्लभ मानव जीवन को अमूल्य जानते हुए सजगता बनाए रखना।

(ख) इस जीवन की समाप्ति की वास्तविकता के प्रति सचेत रहना अर्थात् मृत्यु प्रत्येक के लिए अवश्यम्भावी एवं अटल प्रक्रिया है। जीवन क्षणभंगुर है अतएव अनित्यता का भाव रखना।

(ग) सदैव स्मरण रखना कि प्रत्येक कुशल और अकुशल कार्य की गणना कर्म में होती है।

(घ) सदैव चिन्तन करना कि जिस कालावधि तक साधक स्वयं की महत्ता और स्वयं के गुणी–अवगुणी होने के भाव में रत रहेगा इसकी निष्पत्ति दुःख में होती रहेगी। प्रिय वा अप्रिय का फल अहंभाव में होता है।

5.1 द्वितीयक बिन्दु

དངོས་གཞི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་སྐྱེད་བ།

मुख्य शिक्षाएं जिसका प्रतिफलन बोधिचित्तोत्पाद से संबंधित प्रशिक्षण–निर्देश में होता है। इसके दो भाग हैं–

सम्यक् बोधिचित्त और सापेक्ष बोधिचित्त

क. सम्यक् बोधिचित्त

1. सभी धर्म स्वप्नवत् हैं। यद्यपि उनमें आभासी सत्य होता है, परन्तु ये स्मृतियों का भारमात्र हैं।

2. अजन्मी स्मृति के प्रकृति का परीक्षण करना।

3. स्व का बोध तथा स्वयं स्व विष के समान है। इसकी विषनाशक औषधि द्वारा मुक्ति होती है।

4. वर्तमान में होने की साधना। इसे आलय की प्रकृति में होना कहा जाता है।

5. साधना के पश्चात् हुए भ्रम के उत्पन्न होने से मुक्ति।

ख. सापेक्ष बोधिचित्त

6. श्वास के ग्रहण और त्याग (प्रश्वास और निःश्वास) के अन्तरण की साधना अर्थात् आनापान साधना जिसे तिब्बती में तोङ्–लेन कहते हैं।

7. तीन कुशल मूल, त्रिविष[3] और तीन कर्म[4] साधना। तीन कुशल मूल इन्हें विनष्ट करने की साधनाएँ हैं।

8. सभी कर्मों में उपर्युक्त सभी निर्देशों के साथ रहना।

9. अपने श्वास–प्रश्वास और निःश्वास के प्रति जागृत रहना।

5.2 बिन्दु–3 इस बिन्दु पर शिक्षाएं बोधिचित्तोत्पाद के हेतु से संबंधित हैं।

རྒྱུན་དན་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་ལམ་དུ་བསྐྱེད་བ།

तृतीय बिन्दु के अन्तर्गत वे शिक्षाएं हैं जो साधक को विषम परिस्थितियों तथा अवस्थाओं को निर्वाण के पथ में सहयोगी अथवा सहायक बना लेने संबंधी निर्देशों का संकलन हैं–

10. संसार में सर्वत्र बुराई है। सभी दुर्घटनाओं को बोधिपथ में सहायक बना लेना।

11. सभी दोषारोपण को चाहे वे बड़ी हों अथवा छोटी, एक समान गम्भीर समझना।

12. सभी के प्रति कृतज्ञ होना। इसे अहोभाव भी समझा जा सकता है। धन्यभाव भी इसी का एक अन्य नाम है।

13. चतुष्काय अर्थात् धर्मकाय, सम्भोगकाय, निर्वाणकाय और स्वाभाविककाय को भ्रम समझना। विचारों को

---

[3] तृष्णा, घृणा/द्वेष, उपेक्षा

[4] मित्र, शत्रु, निरपेक्ष

अजन्मा, अनिरोध, ठोस न होना और ये तीनों गुण परस्पपर सम्बन्धित हैं। शून्यता को पूर्ण असीम समझना।

14. चार साधनाएँ सर्वश्रेष्ठ उपाय हैं। ये हैं– गुणसम्भार, अकुशल त्याग, बड़ों के तर्पण और, धर्मपालों को तर्पण।

15. असम्भाव्य से समाधि सहित साक्षात्कार करना।

5.3 बिन्दु–4

ཚེ་གཅིག་གི་ཉམས་ལེན་དུ་ལ་ནས་བསྟན་པ།

चतुर्थ बिन्दु के अन्तर्गत समस्त जीवन भर के लिए इस साधना के उपयोग का प्रशिक्षण संबंधी शिक्षाएँ आती हैं–

16. पाँच बलों का हृदय की गहराइयों से साधना करना।

17. मृत्यु के समय पाँच बलों का प्रकाट्य एवं एतत् सम्बन्धी महायान के निर्देश। इसका महत्त्व पाँच बलों की साधना करते हुए मृत्यु का वरण करना है।

5.4 बिन्दु–5

སྒོ་འབྱེད་པའི་ཚད།

पञ्चम बिन्दु में साधक उन मानदण्डों से परिचित होता है जो चित्त प्रशिक्षण में प्रवीणता के संकेतों का मानक होती हैं–

18. सभी शिक्षाओं (धर्मों) का मूल एक ही है। सभी बौद्ध शिक्षाएँ अहं को कम करने और अहं–प्राप्ति की दिशा से हटाने को प्रेरित करती है।

19. दो साक्षियों में से एक को धारण कर रखना है। कारण यह है कि आप अपने आपको दूसरों से बेहतर जानते हैं। पहला साक्षी स्वयं (द्वारा निरीक्षण) तथा दूसरा साक्षी अन्यों द्वारा विरीक्षण है।

20. सदैव मुदिताभाव में रहें।

21. जब आप विचलित चित्त में भी साधना करते रहते हो, आप प्रशिक्षित हुए।

5.5 बिन्दु–6

སྒོ་སྒྲུབ་གི་དམ་ཚིག

षष्ठ बिन्दु अधिष्ठान अर्थात् चित्त प्रशिक्षण की शिक्षाएं है। यहां नियम में अधिष्ठान है अर्थात् इनके पालन की शपथ अपेक्षित है। (अथातो चित्तानुशासनम्)।

22. तीन मूलभूत सिद्धान्तों का सदैव पालन करना चाहिए–

(क) साधना के प्रति यत्नशील रहना।

(ख) विनय–भंग के कार्यों से विरत रहना।

(ग) क्षान्ति का विकास करना।

23. अपने हावभाव में परिवर्तन करें, पर उपेक्षाभाव बनाए रखें। अहं के प्रति लगाव घटाएँ, पर साथ ही स्वयं के साथ बने रहें।

24. विनय–भंग अथवा आचारहीनता की चर्चा न करें। दूसरों के दोषों के चिन्तन में प्रसन्न न हों। परनिन्दा में

आनन्दित न हों।

25. दूसरों पर अत्याधिक ध्यान न दें। अन्य साधकों की दुर्बलता पर प्रसन्न न हों।

26. सर्वाधिक सशक्त क्लेशों पर सर्वप्रथम प्रहाण करें। सबसे बड़ा विघ्न सबसे पहले हटना चाहिए।

27. किसी भी प्रकार के फल–प्राप्ति की आकांक्षा (आशा) का त्याग करें। ऐसे विचारों में न निमग्न हों कि भविष्य मेंआप कहाँ होंगे। वर्तमान में ही रहें।

28. विषाहार[5] का त्याग करें।

29. अनुमानित न हों। दुराग्रह न रखें।

30. दूसरों में दोष न देखें। छिद्रान्वेषण से बचें।

31. दूसरों की दुर्बलताओं पर प्रहार न करें व घात न लगाएँ।

32. किसी की मानहानि न करें।

33. अपना उत्तरदायित्व दूसरों पर न डालें, स्वयं उठाएँ। स्वयंसेवी बनें।

34. प्रतिस्पर्द्धा का परित्याग करें। साधना में भी होड़ न हो।

35. कुशल कर्मों में उपेक्षाभाव से कार्य करें। अपने लाभ हेतु इसके सिद्धान्त या व्यवहार को पुनर्परिभाषित न करें।

36. देव को दानव न बनाएँ। तात्पर्य यह है कि अपनी आध्यात्मिकता को अतिरंजित कर उसकी स्वीकार्यता को महिमामण्डित करने का प्रयास न करें।

37. दूसरे साधकों के दुःख और तकलीफों को अपने सुख का स्रोत न बनाएँ।

5.6 बिन्दु–7

བློ་སྦྱོང་གི་བསླབ་བྱ།

सप्तम एवं अंतिम बिन्दु चित्त प्रशिक्षण की शिक्षाएँ हैं जो पूर्ववर्णित शिक्षाओं को समेकित रूप में उपलब्ध कराती हैं–

38. सभी कार्य एक उसी उद्देश्य (चित्तानुशासन) के लिए किए जाएँ।

39. इसी एक उद्देश्य को ध्यान में रखकर दोषों को दूर करें।

40. कार्य के व्यवहार को द्विविधिक रखें। पहला आरम्भिक और दूसरा आन्तिक।

41. उपर्युक्त दोनों में से जो भी सम्मुख आए, क्षान्ति रखें।

42. आरम्भिक व आन्तिक दोनों का प्राणों के मूल्य पर भी पालन करें।

43. तीन विघ्नों (difficult emotions)[6] में प्रशिक्षित रहें। ये तीन मनोरोग हैं जिन्हें हम तीन

---

[5] रूप, यौवन, वैभव, ज्ञान आदि का अहंकार व स्तुति विषाहार हैं।

[6] इन तीन विघ्न अथवा मुश्किलों को हम क्लेश भी कह सकते हैं। ये चित्तवृत्ति के दोष ही हैं। पहला है इन दोषों की पहचान करना। वास्तव में साधना में जब तक साधक इन दोषों की पहचान कर सकने में सफल हो पाए तब तक तो ये दोष चित्त पर अधिकार जमा कर विकार उत्पन्न कर चुके होते हैं। दूसरी मुश्किल है इनके पहचान के बाद इनको दूर करने के उपायों के आजमाना तथा उन्हें अपनी दैनंदिन साधना का अंग बनाना। तीसरी मुश्किल है कि जो क्लेश अथवा दोष उपस्थित होता है उसको दूर करने की साधना की निरन्तरता बनाए रखना ताकि नए क्लेश मनोरोग उत्पन्न न हो सकें। ये मनोरोग स्व के कारण ही आते हैं जिसकी प्रतिपत्ति अहंभाव में होती रहती है। सो इनका निदान निष्ठा व

विक्षिप्तताएं भी कह सकते हैं। इनके विषय में प्रशिक्षण अत्यावश्यक है। इन्हें जाने और बिना हटाए साधना

पथ पर अग्रसर होने की संभावना समाप्त हो सकती है।

44. तीन प्रधान हेतुओं को अपने साथ रखें अर्थात् त्रिरत्न का साथ रखें।

45. इसका सदैव ध्यान रखें कि इन तीनों से कभी विचलित न हों–

(क) गुरु के प्रति कृतज्ञता

(ख) धर्म की स्तुति

(ग) सच्चरित्रता

46. इन तीनों का सदैव साथ रखें। शरीर, मन और वाणी से संयुक्त रहें।

47. साधना के सभी क्षेत्रों में पूर्वाग्रहों से मुक्त रहें। यहाँ विकृति रहित और सम्पूर्ण मनोयोग व्यवहार करना

अत्यन्त आवश्यक है।

48. जिन वस्तु अथवा भावों से विद्वेष का जन्म होता हो, उनपर साधना करते रहें।

49. बाह्य वस्तुओं से प्रभावित न हों। आकर्षण व विकर्षण से दूर रहें।

50. अब मुख्य बिन्दुओं की साधना करें। ये हैं– परात्म, धर्म और प्रबोधित करुणा।

51. अशुद्ध अर्थ एवं व्याख्या न करें। क्षान्ति, उत्कण्ठा, विषाद, करुणा, प्राथमिकता और मुदिता, इन छह भावनाओं की अशुद्ध व्याख्या सम्भव है। साधना पथ में सुगमता की स्थिति में क्षान्ति का पालन करना सरल है, पर अत्याधिक दुष्कर होने की स्थिति में क्षान्ति का साथ छूटने लगता है। यदि चित्त और हृदय सम्यक् प्रशिक्षित न हो तो आप सांसारिक वस्तुओं के प्रति उत्सुक हो सकते हैं। आप वैभव और मनोरंजन के प्रति भी आकर्षित हो सकते हैं जबकि इस आकर्षण का लक्ष्य बोधप्राप्ति होना चाहिए। करुणा भी अपने प्रिय के प्रति हो सकती है जबकि इसे मुदिता एवं करुणा के प्रति होना चाहिए। शत्रुओं के दुःखप्राप्ति में आप मुदित हो जाते हैं, परन्तु उनके उत्कर्ष में मुदित नहीं होते। इससे बचें।

52. लो–जोङ् अथवा चित्त–प्रशिक्षण की साधना से विचलित न हों।

53. प्रशिक्षण सम्पूर्ण मनोयोग से करें।

54. आप आत्मविश्लेषण और आत्मनिरीक्षण द्वारा प्रोन्नत हों। चित्त को सम्पूर्ण सत्यता (ईमानदारी या न्यायिकता)

एवं निर्भीकता से जाने।

55. दीनता का भाव न रखें। अवलुंठन में निमग्न न हों।

56. द्वेष का परित्याग करें।

57. निरर्थक अथवा सारहीन वार्तालाप न करें। चंचलता से बचें।

58. प्रशंसा की आशा न रखें।

इस प्रकार लो–जोङ् का उपर्युक्त वर्णन संक्षेप में किया गया। उपर्युक्त वर्णित प्रत्येक बिन्दु एक विस्तृत एवं गहन विश्लेषण की आकांक्षा रखता है जिसका सांगोपांग अध्ययन स्थानाभाव के कारण यहां दे पाना अपेक्षित नहीं है। पर संक्षिप्ततः इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लो–जोङ् में लाम–रीम साधना के साधनाक्रम की तीन साधनाओं में से दो यथा, निस्सरण

पूर्ण दृढ़ता से इनके उन्मूलन में ही है। अब इस साधना का प्रत्यक्षीकरण बोधिचित्तोत्पाद में करना तो स्वयं के प्रयत्न से ही है, यह बोधि की मुख्य शिक्षा का अंग नहीं। अतएव लो–जोङ की साधना से पूर्व बोधिचित्तोत्पाद के विचारों से समन्वय स्थापित करना एक पूर्व अर्हता है। शाब्दिक अर्थ में भी लो–जोङ् शिक्षाएं मन के शुद्धिकरण की शिक्षाएं ही हैं। आशय यही है कि लो–जोङ् में प्रशिक्षित हो साधक बुद्ध स्वभाव, बोधिचित्त तथा तथागतगर्भ से विलग न हो, निरंतरता से लगा रहे।

और बोधिचित्तोत्पाद का यथेष्ट व्यवहारिक वर्णन दिया गया है। तीसरे पद सम्यक दर्शन का यहां न होते हुए भी निस्सरण और बोधिचित्त का प्रतिफल माना गया है, ऐसा समझा जाना चाहिए।

संदर्भ

1- Sects in Tibetan Buddhism, DK Printworld, Delhi, 2006

2- बौद्ध धर्म और तिब्बती परम्पराएं, अर्जुन प्रकाशन, दिल्ली, 2019